दैनिक जागरण

Date:18-03-24

पारदर्शी प्रक्रिया की जरूरत

संपादकीय

अंततः चुनाव आयोग ने चुनावी बॉन्ड के जरिये दिए जाने वाले चंदे का वह विवरण भी सार्वजनिक कर दिया जिसकी प्रतीक्षा की जा रही थी। इस विवरण के अनुसार सबसे अधिक चंदा भाजपा, तृणमूल कांग्रेस और कांग्रेस ने पाया। यह वही क्रम है जो कुछ दिनों पहले सार्वजनिक किए गए विवरण में दिखा था। द्रमुक और जनता दल (एस) ने तो यह बता दिया कि उसे किस कंपनी अथवा व्यक्ति से कितना चंदा मिला। देखना यह है कि अन्य दल ऐसा करते हैं या नहीं। वे ऐसा न भी करें, तो स्टेट बैंक जैसे ही चुनावी बॉन्डों का अल्फा न्यूमेरिकल नंबर बताएगा वैसे ही यह सामने आ जाएगा कि किसने किस दल को कितना चंदा दिया। चुनावी बॉन्ड के जरिये दिए जाने वाले चंदे का जो विवरण अभी तक सामने आया है, उससे दो चिंताजनक पहलू उजागर हुए हैं। एक तो यह कि जो कंपनियां प्रवर्तन निदेशालय अथवा आयकर विभाग की जांच का सामना कर रही थीं, उन्होंने भी चंदा दिया। दूसरा यह कि कुछ ऐसी कंपनियों ने भी चंदा दिया जो घाटे में चल रही थीं। यह दोनों पहलू संदेह पैदा करते हैं।

इस संदेह का निवारण होना ही चाहिए कि कहीं व्यावसायिक हितों की रक्षा के लिए तो चंदा नहीं दिया गया। पता नहीं इस संदेह का निवारण हो सकेगा या नहीं, लेकिन यह आवश्यक है कि चुनावी चंदे की प्रक्रिया पारदर्शी हो और जनता को यह जानकारी मिल सके कि किसने किस दल को कितना चंदा दिया। राजनीति बिना पैसे के नहीं चल सकती। चंदे के बिना राजनीतिक दलों का काम चलने वाला नहीं है। चुनावी बॉन्ड की व्यवस्था इस उद्देश्य से बनाई गई थी कि चंदे की प्रक्रिया साफ-सुथरी होगी, लेकिन ऐसा नहीं हो सका। अब आवश्यक यह है कि ऐसी कोई व्यवस्था बने जिससे वैसे सवाल न उठने पाएं जैसे चुनावी बॉन्डों को लेकर उठे। चुनावी बॉन्डों के जरिये चंदा देने की व्यवस्था को खत्म करने के साथ ही किसी नई पारदर्शी व्यवस्था का निर्माण किया जाना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इसका अंदेशा पैदा हो गया है कि कहीं चंदा देने का वह पुराना तौर-तरीका फिर से न चलन में आ जाए जिसमें किसी को इस बात का कुछ पता ही नहीं चलता था कि किसने किस दल को कितना चंदा दिया। राजनीति को काले धन से परे रखने के हरसंभव जतन किए ही जाने चाहिए। चुनावी चंदे की नई व्यवस्था में यह तो बिल्कुल भी नहीं होना चाहिए कि कोई भी दल अथवा सरकार किसी कारोबारी पर अनुचित दबाव डालकर चंदा हासिल कर सके। इसी के साथ कारोबारियों को स्वेच्छा से और अपनी पसंद के राजनीतिक दलों को चंदा देने की स्वतंत्रता भी होनी चाहिए। चुनावी चंदे की पारदर्शी व्यवस्था बनाना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि अपारदर्शी तरीके से चंदे के लेन-देन से राजनीतिक दलों की तो बदनामी होती ही है, भारतीय लोकतंत्र की छवि पर भी बुरा असर पड़ता है।

Date:18-03-24

सेक्युलरिज्म की भ्रामक अवधारणा

प्रणय कुमार, (लेखक शिक्षाविद् एवं सामाजिक संस्था 'शिक्षा-सोपान' के संस्थापक हैं)

पिछले दिनों पुणे में एक अदालत के भवन की आधारशिला रखते हुए 'भूमि-पूजन' समारोह के दौरान सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश अभय एस. ओका ने कहा कि न्यायालय-परिसर में आयोजित किसी भी कार्यक्रम में पूजा-अर्चना या दीप-प्रज्वलन जैसे अनुष्ठान बंद कर देने चाहिए। उनके मतानुसार न्यायालय के किसी भी कार्यक्रम के शुभारंभ से पूर्व संविधान की प्रस्तावना की प्रति के समक्ष सिर झुकाकर पंथनिरपेक्षता को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इससे पहले सेवानिवृत्त न्यायाधीश कुरियन जोसेफ ने भी कहा था कि सर्वोच्च न्यायालय के ध्येय-वाक्य 'यतो धर्मस्ततो जयः' (जहां धर्म है, वहां जय है) को बदल देना चाहिए, क्योंकि सत्य ही संविधान है, जबकि धर्म सदा सत्य नहीं होता। उन्होंने यहां तक प्रश्न उठाया कि जब अन्य सभी उच्च न्यायालयों और राष्ट्रीय संस्थानों में आदर्श वाक्य 'सत्यमेव जयते' है तो फिर सर्वोच्च न्यायालय का आदर्श वाक्य भिन्न क्यों है?

सामान्यतः ऐसे तर्कों के मूल में या तो रिलीजन, मजहब एवं संप्रदाय आदि को धर्म का पर्याय मानने की भूल है या सेक्युलरिज्म की भ्रामक एवं मिथ्या अवधारणा है। 'सेक्युलरिज्म' मूलतः भारतीय संविधान का हिस्सा नहीं था। इसे आपातकाल के दौरान 42वें संवैधानिक संशोधन के माध्यम से सम्मिलित किया गया था, जब पूरा विपक्ष जेल में था। संविधान की मूल प्रति में शताब्दियों से चली आ रही सांस्कृतिक परंपरा एवं इतिहास को रेखांकित करने के लिए 22 चित्र थे, जिनमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, श्रीकृष्ण जैसे सर्वकालिक महानायकों से लेकर हनुमान, बुद्ध, महावीर, राजा भरत, राजा विक्रमादित्य, छत्रपति शिवाजी, गुरु गोबिंद सिंह, रानी लक्ष्मीबाई, यज्ञ में संलग्न वैदिक ऋषि आदि प्रमुख हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि संविधान सभा के सदस्य 'सेक्युलरिज्म' के आज के झंडाबरदारों की तुलना में अधिक 'सेक्युलर' तथा नीति एवं नीयत को लेकर अधिक स्पष्ट एवं निष्पक्ष थे। क्या यह सत्य नहीं कि भारत अपनी मूल प्रकृति एवं स्वभाव से ही पंथनिरपेक्ष है? वस्तुतः 'सेक्युलरिज्म' एक ऐसी अवधारणा है, जिसे यूरोप से भारत में आयातित किया गया है। इस अवधारणा का जन्म यूरोप में मध्य युग में हुआ था, जब चर्च और राज्य सत्ता अपने-अपने प्रभाव एवं कार्य-क्षेत्र के लिए आपस में टकराए थे। वहां की परिस्थिति विशेष के लिए वह एक उचित समाधान रहा होगा, परंतु हमारे यहां कभी भी मजहबी राज्य नहीं था, न ही राज्य-सत्ता एवं धर्मसत्ता के मध्य कभी कोई टकराव ही देखने को मिला, इसलिए उस संदर्भ में सेक्युलरिज्म की बात ही अर्थहीन है।

हमारे देश में धर्माचार्यों के शासन की नहीं, बल्कि अनुशासन की परंपरा अवश्य रही है। धर्म को रिलीजन अथवा मजहब के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता, क्योंकि धर्म समग्र जीवन-पद्धति से भी विशालतर अवधारणा है। यह एक ब्रह्मांडीय विचार है। यह वैविध्य में एकत्व देखने की अंतर्दृष्टि है। धर्म शब्द के मूल में 'धृ' धातु है, जिसका संबंध धारण करने से है। धर्म वस्तु और व्यक्ति में सदा रहने वाली सहज वृत्ति, प्रकृति अथवा गुण का द्योतक है। धर्म कर्तव्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। धर्म उन व्यवस्थाओं अथवा नियमों के समुच्चय का नाम है, जो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं

मानव जीवन के विभिन्न अंगों को धारण किए रहता है। वहीं मजहब एवं रिलीजन का संबंध कुछ निश्चित आस्थाओं-मान्यताओं से होता है। जब तक कोई व्यक्ति उनको मानता है, वह उस 'रिलीजन' या 'मजहब' का सदस्य बना रहता है। ज्यों ही वह उन आस्थाओं-मान्यताओं को छोड़ता है, वह उनसे बहिष्कृत हो जाता है। धर्म केवल आस्थाओं पर आधारित नहीं होता। किसी धार्मिक आस्था में विश्वास न रखने वाला व्यक्ति भी धार्मिक अर्थात सद्गुणी हो सकता है। 'सेक्युलर' का अनुवाद 'धर्मनिरपेक्ष' किए जाने के कारण भी बहुत से भ्रम पैदा हुए। इसका अभिप्राय धर्म से उदासीन होना नहीं होता। हमें यह समझना होगा कि राजकीय समारोहों के उद्घाटन के अवसर पर दीप-प्रज्वलन की परिपाटी या नए जहाज के जलावतरण की मंगलमय बेला में नारियल तोड़कर प्रसन्नता प्रकट करना अथवा नवनिर्माण से पूर्व भूमि-पूजन कर धरती माता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना किसी उपासना पद्धति का भाग न होकर भारतीय संस्कृति और परंपरा का अंग है।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अंधकार से प्रकाश की ओर-यह मानव की प्रगति यात्रा का दिशानिर्देश है। चिरकाल से मनुष्य नन्हा सा दीप जलाकर अंधकार की सत्ता को चुनौती देता आया है। हम आलोकधर्मी संस्कृति के वाहक हैं। अंधकार किसी भी समूह, समाज अथवा समुदाय का अभीष्ट नहीं हो सकता, न ही होना चाहिए। धर्म जहां परिणामोन्मुखी एवं निर्देशात्मक होता है, वहीं सत्य वस्तुनिष्ठ होता है। यदि सत्य इस प्रश्न का उत्तर देता है कि 'क्या है' तो धर्म इस प्रश्न का उत्तर देता है कि 'क्या होना चाहिए।' धर्म संविधान में निहित न्याय, निष्पक्षता और समानता के अंतर्निहित मूल्यों को मजबूत करता है। यह सुनिश्चित करता है कि वैधानिक निर्णय न केवल विधिसम्मत हों, अपितु नैतिक कसौटी पर भी खरे उतरने वाले हों। संविधान जहां देश के सर्वोच्च कानून के रूप में कार्य करता है, वहीं धर्म नैतिक दिशा-निर्देश प्रदान कर इसके अनुप्रयोग को बढ़ाता है। यह कानूनी व्याख्या एवं निर्णय लेने में सहायक एवं मार्गदर्शक भूमिका निभाता है। धर्म को विधिक प्रक्रिया, तर्क एवं व्याख्या में सम्मिलित कर न्यायाधीश नैतिक दुविधाओं को संबोधित एवं जटिल मुद्दों को हल कर सकते हैं। इस प्रकार 'धर्म एवं संविधान' तथा 'धर्म एवं सत्य' में परस्पर विरोध या टकराव न होकर सहयोग एवं पूरकता का भाव निहित है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:18-03-24

आचार संहिता की चुनौती

संपादकीय

एक महीने से कुछ अधिक समय के भीतर देश में दूसरे सबसे लंबे आम चुनावों का सिलसिला आरंभ हो जाएगा। यह दुनिया के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में लोकतंत्र का बड़ा उत्सव होगा। भारत जैसे विशाल भौगोलिक और सांस्कृतिक विविधता वाले देश के लिए इस पंचवर्षीय आयोजन का पैमाना कभी कम नहीं था। 2024 के चुनाव का आकार अपने पूर्ववर्तियों को छोटा साबित कर देगा। सात चरणों में होने जा रहे आम चुनावों के लिए करीब 96.9 करोड़ पंजीकृत मतदाता हैं। इसके साथ ही चार राज्यों के विधान सभा चुनाव भी होंगे। यह आंकड़ा देश की चुनावी कवायद को इस वर्ष अन्य बड़े लोकतांत्रिक देशों में होने जा रहे चुनावों की तुलना में बड़ा बनाने वाला है। उदाहरण के लिए इंडोनेशिया में हाल

ही में चुनाव संपन्न हुए। वहां करीब 20.4 करोड़ मतदाता हैं। अमेरिका जो दुनिया का सबसे ताकतवर लोकतांत्रिक देश है वहां करीब 16.8 करोड़ मतदाता हैं। भारत में कुल मतदाताओं में आधी संख्या महिलाओं की है। अनुमान के मुताबिक ही इन मतदाताओं में जो गरीब हैं वे प्रमुख राजनीतिक दलों के चुनाव प्रचार के निशाने पर हैं। इन चुनावों में युवाओं की अहम भूमिका होगी क्योंकि करीब 29 फीसदी मतदाता 18 से 29 वर्ष की आयु के हैं। एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि भारत में करीब दो लाख मतदाताओं की आयु 100 वर्ष से अधिक है। यह एक तथ्य है कि भारत इतने बड़े चुनावों को इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग के जरिये अंजाम देने में कामयाब रहता आया है और हमारे ऊपर 2020 के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनावों की तरह मत पत्रों की हेराफेरी या चोरी जैसे कोई इल्जाम नहीं लगे। इस लिहाज से भारत का प्रदर्शन सराहनीय है।

कुछ चिंता की बातें भी हैं और उनमें से प्रमुख है भारतीय निर्वाचन आयोग की आदर्श चुनाव आचार संहिता की निगरानी और उसे प्रभावी ढंग से लागू कराने की क्षमता। इस लिहाज से देखा जाए तो चुनाव प्रक्रिया को लंबा बनाना मसलन 1999 के 29 दिन से 2019 में 39 दिन और 2024 में उसे 44 दिन करना प्रमुख विपक्षी दलों के बीच विवाद का विषय है। चुनाव आयोग ने बार-बार यह स्पष्ट किया है कि कई चरणों में चुनाव कराना इसलिए आवश्यक है ताकि बड़ी संख्या में केंद्रीय सुरक्षा बलों को10 लाख से अधिक मतदान केंद्रों पर तैनात किया जा सके।

चुनावों को अंजाम देने के लिए चुनाव आयोग 1.5 करोड़ मतदानकर्मियों और सुरक्षाकर्मियों की सेवाएं लेता है। चुनाव प्रचार अभियान की आवृत्ति और गहनता को देखते हुए यह यह उम्मीद करना कठिन है कि वह इस बात की प्रभावी निगरानी करे कि सभी दल आचार संहिता का पालन कर रहे हैं अथवा नहीं। चरणबद्ध मतदान भी सवाल पैदा करते हैं। प्रमुख आशंका यह है कि लंबी अवधि तक विस्तारित चुनाव सत्ताधारी दल को असंगत रूप से फायदा पहुंचाते हैं क्योंकि उसके पास सरकारी अधोसंरचना होती है जिसका वह चुनाव प्रचार में फायदा उठा सकता है।

एक और विषय जिस पर अपर्याप्त ध्यान दिया गया है वह है टेलीविजन, वेबसाइट, सोशल मीडिया और फोन का प्रचार उपकरणों के रूप में इस्तेमाल। लंबे समय तक चलने वाले चुनावों में ऐसे आभासी प्रचार प्रतिस्पर्धी दलों को यह अवसर देते हैं कि वे उन इलाकों में भी अपने प्रचार को बढ़ा सके जहां चुनाव आयोग के निर्देशों के मुताबिक मतदान के 48 घंटे पहले प्रचार रोक दिया जाना चाहिए। अधिकांश दल चतुराईपूर्ण तरीके से इन प्रचार तकनीकों का इस्तेमाल करके प्रचार पर रोक को धता बताने की कोशिश करते हैं। ये वे चुनौतियां हैं जिनसे निर्वाचन आयोग को शीघ्र निपटने की आवश्यकता है। इसके अलावा चुनाव आयोग ने राजनीतिक दलों के लिए भी मशविरा जारी किया है। उदाहरण के लिए उसने सलाह दी है कि प्रचार अभियान मुद्दों पर आधारित होना चाहिए और राजनीतिक दलों को नफरत फैलाने वाले भाषण देने से बचना चाहिए। मतदान की अपीलें जाति और धर्म के आधार पर नहीं की जानी चाहिए और यह प्रमुख चुनाव प्रचारकों की जिम्मेदारी है कि वे शुचिता बनाए रखें। चूंकि चुनाव प्रतिस्पर्धी होते हैं, ऐसे में यह चुनाव आयोग का दायित्व है कि हर कोई नियम कायदों का पालन करे।

जनसत्ता

Date:18-03-24

लोकतंत्र का उत्सव

संपादकीय

आम चुनाव की तारीखों की घोषणा हो गई है। सात चरण में मतदान होंगे। पहले चरण के मतदान से लेकर नतीजों की घोषणा तक डेढ़ महीने चुनाव का माहौल बना रहेगा। पहले चरण के मतदान से पहले भी पूरा एक महीना राजनीतिक दलों को मिला है। यानी चुनाव कुल ढाई महीने की अवधि में फैला है। यों राजनीतिक दल इसके लिए काफी पहले से तैयारियों में जुट गए थे। उम्मीदवारों के नामों की घोषणा, सहयोगी दलों के साथ सीटों के बंटवारे आदि को लेकर मंथन काफी समय से चल रहा था। अब वे अपना-अपना समीकरण लेकर मैदान में उतरेंगे। मगर चुनाव का ज्यादा दारोमदार आखिरकार मतदाता पर होता है। वह चुनाव को क्या दिशा देता है, इस पर दुनिया की नजर टिकी होती है। मगर कुछ चुनावों के अनुभवों से जाहिर है कि मतदाता चुनाव को लोकतंत्र के उत्सव के रूप में मनाने के बाजाय दलगत उन्माद से भर जाते हैं। इसी का नतीजा कई जगहों पर राजनीतिक हिंसा में दिखाई देता है। कुछ राज्यों में हिंसा की घटनाएं चिंता पैदा करती हैं। इसी के मद्देनजर भारतीय निर्वाचन आयोग को अपनी रणनीति तैयार करनी पड़ती है। चुनाव स्वतंत्र और निष्पक्ष रूप में संपन्न कराए जा सकें, यह निर्वाचन आयोग के सामने बड़ी चुनौती होता है।

चुनाव के वक्त राजनीतिक दल एक-दूसरे पर स्वाभाविक रूप से आरोप-प्रत्यारोप लगाते हैं। उसमें कई बार आपत्तिजनक बयान भी आ जाते हैं। उस पर नजर रखना निर्वाचन आयोग की जिम्मेदारी है। मगर पिछले कुछ चुनावों से देखा जा रहा है कि पार्टियों के समर्थक खुद राजनेताओं के बयानों के बचाव या विरोध में परस्पर गुत्थम-गुत्था हो जाते हैं। पश्चिम बंगाल और दक्षिण के कुछ राज्यों में ऐसा वातावरण कुछ अधिक देखने को मिलता है। लोकतंत्र में असहमति अच्छी बात है, मगर उसे लेकर हिंसा पर उतर जाना किसी भी रूप में लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता। इससे नाहक निर्वाचन आयोग और सुरक्षाबलों की परेशानियां बढ़ती हैं। बहुत सारे मतदाताओं के मनोबल पर भी इसका असर पड़ता है और वे मतदान केंद्रों तक पहुंचने से हिचकते हैं। एक लोकतांत्रिक देश का जिम्मेदार नागरिक होने के नाते हर मतदाता से उम्मीद की जाती है कि न केवल वह अपने विवेक से मतदान करे, बल्कि मतदान की प्रक्रिया को भी बाधित होने से बचाए। मतदान के बदले राजनीतिक दलों की तरफ से दिए जाने वाले पैसे और उपहार वगैरह के प्रलोभन से पार पाना भी बड़ी चुनौती बन गया है, इस मामले में भी मतदाताओं की मदद की अपेक्षा है।

हालांकि इतने लंबे समय तक चुनाव को फैला देने पर कुछ राजनीतिक विशेषज्ञों के एतराज को सिरे से खारिज नहीं किया जा सकता। चुनाव की अवधि जितनी लंबी खिंचती है, उतनी ही उसमें गड़बड़ियों की आशंका भी बनी रहती है। इसे

लेकर कई बार आपत्ति दर्ज कराई जा चुकी है। पहले चरण के मतदान के बाद करीब डेढ़ महीने तक वोटिंग मशीनों की निगरानी करनी पड़ेगी। इतने लंबे समय तक आदर्श आचार संहिता लागू रहने से सरकारी कामकाज भी प्रभावित होंगे। सुरक्षाबलों को लगातार एक से दूसरे इलाके में स्थांतरित करते रहना पड़गा। इसलिए मांग की जाती रही है कि चुनाव को कम से कम समय में संपन्न कराया जाना चाहिए। हालांकि सुरक्षा कारण बड़ी चिंता का विषय हैं, पर इतनी लंबी अवधि में फैले चुनाव में स्वतंत्रता और निष्पक्षता सुनिश्चित करना खुद निर्वाचन आयोग के लिए भी कम कठिन काम नहीं होता है।

राष्ट्रीय सहारा

Date:18-03-24

पीड़ितों को मिलेगी नागरिकता

प्रमोद भार्गव

आखिरकार, लंबी चली जद्दोजेहद के बाद नागरिकता संशोधन कानून (सीएए) के नियम अधिसूचित कर दिए हैं। लोक सभा चुनाव के ठीक पहले इस कानून को अमल में लाना भाजपा की चुनावी रणनीति का हिस्सा माना जा सकता है। कांग्रेस और तृणमूल कांग्रेस समेत अन्य विपक्षी दल इस कानून का इसलिए दुष्प्रचार करते रहे हैं कि इससे मुसलमानों की नागरिकता संकट में पड़ जाएगी जबकि इसमें देश के किसी भी धर्म से जुड़े नागरिक की नागरिकता छीनने का कोई प्रावधान नहीं है। हां, घुसपैठियों को जरूर नागरिकता सिद्ध नहीं होने पर बाहर का रास्ता दिखाया जा सकता है।

संसद और उसके बाहर ऐसे अनेक बौद्धिक आलोचक थे, जो प्रमाणित करने में लगे थे कि यह कानून 'आइडिया ऑफ इंडिया' अर्थात संविधान की मूल भावना के विरुद्ध है लेकिन यह संदेह जम्मू-कश्मीर से हटाई गई धारा-370 और 35-ए की तरह ही संवैधानिक है। इस कानून का मुख्य लक्ष्य धार्मिक आधार पर प्रताड़ितों, हिन्दू, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी और ईसाई, जिन्हें पाकिस्तान, बांग्लादेश और अफगानिस्तान से पलायन को मजबूर होना पड़ा है, को भारत में नागरिकता प्रदान करना है। पहले भी इन तीनों देशों के मुसलमानों को भारतीय नागरिकता दी जा चुकी है। जाहिर है कि यह कानून किसी धर्म या संप्रदाय के आधार पर भेदभाव से नहीं जुड़ा है। साफ है, यह कानून किसी की नागरिकता छीनने का नहीं, बल्कि देने का कानून है। यह विधेयक मूल रूप में 1955 के नागरिकता विधेयक में ही कुछ परिवर्तन करके अस्तित्व में लाया गया है। 1955 में यह कानून देश में दुखद विभाजन के कारण बनाया गया था। इस समय बड़ी संख्या में अलग-अलग धर्मो के लोग पाकिस्तान से भारत आए थे। इनमें हिन्दू, सिख. जैन, बौद्ध, पारसी और ईसाई थे।

आजादी के बाद भारत ने धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक देश बनने का निर्णय लिया लेकिन पाकिस्तान ने खुद को इस्लामिक राष्ट्र घोषित कर दिया। पाक के संस्थापक एवं बंटवारे के दोषी मोहम्मद अली जिन्ना के प्रजातांत्रिक सिद्धांत तत्काल नेस्तनाबूद कर दिए गए। 1948 में जिन्ना की मौत के बाद पाकिस्तान पूरी तरह कट्टर मुस्लिम राष्ट्र में बदलता चला

गया। नतीजतन, जो भी गैर-मुस्लिम समुदाय थे, उन्हें प्रताड़ित करने के साथ उनकी स्त्रियों के साथ दुराचार और धर्म परिवर्तन का सिलसिला तेज हो गया। ऐसे में ये पलायन कर भारत आने लगे। दरअसल, इन गैर-मुस्लिमों का भारत के अलावा कोई दूसरा ठिकाना इसलिए भी नहीं था कि पड़ोसी अफगानिस्तान भी कट्टर इस्लामिक देश बन गया था। 1955 तक करीब 45 लाख हिन्दू और सिख भागकर भारत आ गए थे। इनके दृष्टिगत नागरिकता निर्धारण विधेयक, 1955 बनाया गया था। 1971 में जब पाकिस्तान से अलग होकर बांग्लादेश बना तो इस दौरान हिन्दू समेत अन्य गैर-मुस्लिमों पर विकट अत्याचार हुए। फलत: इनके पलायन और धर्मस्थलों को तोड़ने का सिलसिला और तेज हो गया। बड़ी संख्या में हिन्दुओं के साथ बांग्लादेशी एवं पाकिस्तानी मुस्लिम भी बेहतर भविष्य के लिए भारत चले आए जबकि वे धर्म के आधार पर प्रताड़ित नहीं थे। ये घुसपैठिए बनाम शरणार्थी पूर्वोत्तर के सातों राज्यों समेत प. बंगाल में भी घुसे चले आए। इनकी संख्या तीन करोड़ तक बताई जाती है। शरणार्थियों की तो सूची है, लेकिन घुसपैठिए अनुमान के आधार पर ही हैं। पाकिस्तान, बांग्लादेश और अफगानिस्तान से आए शरणार्थियों की सूची मात्र 1 लाख 16 हजार लोगों की है, बाकी घुसपैठिए हैं। इन घुसपैठियों और शरणार्थियों की सही पहचान करने की दृष्टि से ही नागरिकता संशोधन विधेयक लाया गया है।

छब्बीस सितम्बर, 1947 को एक प्रार्थना सभा में महात्मा गांधी ने कहा था, 'पाकिस्तान में जो हिन्दू एवं सिख प्रताड़ित किए जा रहे हैं, उनकी मदद हम करेंगे।' 1985 में केंद्र में जब राजीव गांधी की सरकार थी, तब असम में घुसपैठियों के विरुद्ध जबरदस्त प्रदर्शन हुए थे। नतीजतन, राजीव गांधी और आंदोलनकारियों के बीच समझौता हुआ जिसमें घुसपैठियों को क्रमबद्ध खदेड़ने की शर्त रखी गई। लेकिन इस पर अमल नहीं हुआ। डॉ. मनमोहन सिंह ने प्रधानमंत्री रहते हुए सदन में कहा था कि यदि पाकिस्तान और बांग्लादेश में धार्मिक अल्पसंख्यक प्रताड़ित किए जा रहे हैं और वे पलायन को मजबूर हुए हैं, तो उन्हें भारतीय नागरिकता दी जानी चाहिए। किंतु मनमोहन सिंह ने दस साल प्रधानमंत्री बने रहने के बावजूद इस दिशा में कोई पहल नहीं की जबकि असम में इस दौरान कांग्रेस की सरकार थी। यदि नेहरू और लियाकत अली के बीच समझौते का पालन पाक ने किया होता तो इस विधेयक की न तो 1955 में बनाने की जरूरत पड़ती और न ही अब संशोधन की। बहरहाल, यह कानून मानवीयता के सरोकारों से जुड़ा अहम कानून है, जिसे दुनिया को मिसाल के रूप में देखना चाहिए।